भारत सरकार

# भारत का विधि आयोग

## अनुकल्पी विवाद समाधान, आदि के माध्यम से न्याय-वितरण की आवश्यकता

रिपोर्ट सं. 222

अप्रैल, 2009

# भारत का विधि आयोग

## (रिपोर्ट सं. 222)

अनुकल्पी विवाद समाधान, आदि के माध्यम से न्याय-वितरण की आवश्यकता

डा. न्यायमूर्ति एआर. लक्ष्मणन, अध्यक्ष, भारत का विधि आयोग द्वारा 30 अप्रैल, 2009 को केन्द्रीय विधि और न्याय मंत्री, विधि और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार को अग्रेषित ।

18वें विधि आयोग का गठन भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय, विधि कार्य विभाग, नई दिल्ली के आदेश संख्या ए.45012/1/2006-प्रशा. III (एल ए) तारीख 16 अक्तूबर, 2006 द्वारा 1 सितम्बर, 2006 से तीन वर्ष के लिए किया गया ।

विधि आयोग अध्यक्ष, सदस्य-सचिव, एक पूर्णकालिक सदस्य और सात अंशकालिक सदस्यों से मिलकर बना है ।

अध्यक्ष

माननीय न्यायमूर्ति डा. एआर. लक्ष्मणन, अध्यक्ष

सदस्य-सचिव

डा. ब्रह्म ए. अग्रवाल

पूर्णकालिक सदस्य

प्रोफेसर (डा.) ताहिर महमूद

अंशकालिक सदस्य

डा. (श्रीमती) देविन्दर कुमारी रहेजा

डा. के. एन. चन्द्रशेखरन पिल्लै

प्रोफेसर (श्रीमती) लक्ष्मी जामभोलकर

श्रीमती कीर्ति सिंह

न्यायमूर्ति आई. वेंकटनारायण

श्री ओ. पी. शर्मा

डा. (श्रीमती) श्यामला पप्पू

विधि आयोग आई. एल. आई. बिल्डिंग, द्वितीय तल, भगवानदास रोड, नई दिल्ली-110001 में स्थित है ।

विधि आयोग के कर्मचारिवृंद

सदस्य-सचिव

डा. ब्रह्म ए. अग्रवाल

अनुसंधान कर्मचारिवृंद

| | | |
|---|---|---|
| श्री सुशील कुमार | : | संयुक्त सचिव और विधि अधिकारी |
| सुश्री पवन शर्मा | : | अपर विधि अधिकारी |
| श्री जे. टी. सुलक्षण राव | : | अपर विधि अधिकारी |
| श्री ए. के. उपाध्याय | : | उप विधि अधिकारी |
| डा. वी. के. सिंह | : | सहायक विधि सलाहकार |
| डा. आर. एस. श्रीनेट | : | अधीक्षक (विधि) |

प्रशासनिक कर्मचारिवृंद

| | | |
|---|---|---|
| श्री सुशील कुमार | : | संयुक्त सचिव और विधि अधिकारी |
| श्री डी. चौधरी | : | अवर सचिव |
| श्री एस. के. बसु | : | अनुभाग अधिकारी |
| श्रीमती रजनी शर्मा | : | सहायक पुस्तकालय और सूचना अधिकारी |

इस रिपोर्ट का पाठ **http://www.lawcommissionofindia.nic.in** पर इन्टरनेट पर उपलब्ध है ।

© भारत सरकार

भारत का विधि आयोग

इस दस्तावेज का पाठ (सरकारी चिह्न के सिवाय) इस शर्त के अधीन किसी प्ररूप या माध्यम में निःशुल्क पुनरुत्पादित किया जा सकता है बशर्ते कि यह ठीक-ठीक पुनरुत्पादित किया गया है और भ्रामक संदर्भ में प्रयोग नहीं किया गया है । सामग्री की अभिस्वीकृति भारत सरकार कापीराइट और विनिर्दिष्ट दस्तावेज के शीर्षक के रूप में की जाए ।

इस रिपोर्ट से संबंधित कोई पूछताछ सदस्य-सचिव, भारत का विधि आयोग, द्वितीय तल, आई. एल. आई. भवन, भगवानदास रोड, नई दिल्ली-**110001**, भारत को डाक द्वारा या ई-मेल : **lci-dla@nic.in** द्वारा संबोधित किया जाए ।

**डा. न्यायमूर्ति एआर. लक्ष्मणन**
(भूतपूर्व न्यायाधीश, भारत का उच्चतम न्यायालय)
अध्यक्ष, भारत का विधि आयोग

आई.एल.आई. भवन
(द्वितीय तल)
भगवान दास रोड,
नई दिल्ली-110001
दूरभाष- 91-11-22384475
फैक्स - 91-11-23383564

अर्ध. शा.सं. 6(3)/134/2007-एल सी(एल एस) 30 अप्रैल, 2009

प्रिय डा. भारद्वाज जी,

विषयः- अनुकल्पी विवाद समाधान आदि के माध्यम से न्याय वितरण की आवश्यकता

मैं उपरोक्त विषय पर भारत के विधि आयोग की 222वीं रिपोर्ट अग्रेषित कर रहा हूं ।

विधि आयोग ने पहले ही न्यायिक सुधार, जो मेरा सर्वप्रिय विषय है, विषय पर अपनी पूर्व रिपोर्टों में भिन्न-भिन्न सिफारिशें दी हैं । वर्तमान रिपोर्ट उन रिपोर्टों की सातत्यता में है ।

यह रिपोर्ट *वायस आफ जस्टिस* शीर्षक वाली मेरी दो-जिल्द की पुस्तक पर आधारित है और यह पुनः इस बात पर बल देती है और पुनः प्रतिज्ञान करती है कि अनुकल्पी विवाद समाधान तंत्रों के माध्यम से न्याय-वितरण की अत्यंत आवश्यकता है । अनुकल्पी विवाद समाधान आन्दोलन

---

निवासः सं. 1, जनपथ, नई दिल्ली-110001. टेली. 91-11-23019465, 23793488, 23792745. ई-मेल : ch.lc@sb.nic.in.

को अति तीव्र गति से आगे बढ़ाने की आवश्यकता है । कई अन्य सुझाव जिन्हें अब घिसा-पिटा कहा जा सकता है, के अलावा नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है ।

सादर,

भवदीय,
(डा. न्यायमूर्ति एआर. लक्ष्मणन )

डा. एच. आर. भारद्वाज,
केन्द्रीय विधि और न्याय मंत्री,
भारत सरकार, शास्त्री भवन,
**नई दिल्ली-110001**

अनुकल्पी विवाद समाधान, आदि के माध्यम से

न्याय-वितरण की आवश्यकता

## विषय सूची


| | अध्याय | पृष्ठ सं. |
|---|---|---|
| 1. | प्रतिपादनाएं | 9 |
| 2. | सिफारिशें | 42 |

# I. प्रतिपादनाएं

1.1 18वीं. भारत के विधि आयोग के विचारार्थ विषयों में से एक विषय इस प्रकार है :–

> " यह सुनिश्चित करने के लिए न्याय प्रशासन प्रणाली का पुनर्विलोकन करना कि यह समय की युक्तियुक्त मांग के अनुकूल हो और विशेषकर निम्नलिखित अर्जित करने के लिए हो :–
>
> (i) विलम्ब समाप्त करना, बकाया मामलों का शीघ्र निपटान करना और लागत में कमी करना ताकि इस मूल सिद्धांत को प्रभावित किए बिना कि विनिश्चय उचित और निष्पक्ष होना चाहिए, मामलों का शीघ्र और मितव्ययी निपटान सुनिश्चित किया जा सके ।
>
> (ii) विलम्ब के लिए तकनीकियों और युक्तिओं को कम करने और समाप्त करने हेतु प्रक्रिया का साधारणीकरण जिससे कि यह स्वयं परिणाम के रूप् में नहीं बल्कि न्याय प्राप्त करने के साधन के रूप में लागू हो ।
>
> (iii) न्याय प्रशासन के साथ सभी संबद्ध स्तरो का सुधार।"

1.2 यह रिपोर्ट न्याय प्रशासन विषय पर विधि आयोग की विभिन्न पूर्व रिपोर्टों के सातत्य में है ।

1.3 पुरुष विधि के लिए नहीं बनाया गया है, बल्कि विधि पुरुष के लिए बनी है । विधि मानव आचरण का विनियामक है । कोई विधि ठीक से कार्य नहीं करती जब तक दोनों के बीच अन्योन्य-क्रिया स्वैच्छिक हो । कोई कार्य तभी विधि द्वारा न्यायसंगत है यदि यह प्रमाणित, विधिमान्य और विधि द्वारा दोषमुक्त बनायी गई है ।

1.4 भारतीय संविधान सभी लोगों को न्याय की गारंटी देता है । सभी भारतीय नागरिकों को कई अन्य मूल अधिकारों के अलावा, प्राण और

दैहिक स्वतंत्रता का समान अधिकार गारंटीकृत है । विभिन्न समाज कल्याण विधान जैसे, संविदा श्रम (विनियम और उत्सादन) अधिनियम 1970, समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 द्वारा विभिन्न अन्य विधिक अधिकार प्रदत्त किए गए हैं । लेकिन इन अधिकारों का कोई फायदा नहीं है यदि व्यक्ति के पास उन्हें प्रवृत्त कराने का कोई साधन नहीं है । विधि के नियम में यह परिकल्पित है कि विधि के समक्ष सभी व्यक्ति समान हैं । सभी को समान अधिकार हैं लेकिन दुर्भाग्यवश, सभी अधिकारों का समान रूप से उपभोग नहीं कर सकते । अधिकारों का प्रवर्तन न्यायालयों के माध्यम से होता है लेकिन न्यायिक प्रक्रिया इतनी जटिल, खर्चीली और विलम्बकारी है जो गरीब व्यक्तियों को न्याय से दूर रखती है ।

1.5 भारत का संविधान अनुच्छेद 14 के माध्यम से विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण की गारंटी देता है । संविधान का अनुच्छेद 39क राज्य को यह सुनिश्चित करने का आदेश देता है कि विधिक प्रणाली का प्रचालन समान अवसर के आधार पर न्याय का संवर्धन करे और यह निश्चित करे कि आर्थिक या अन्य निःशक्तताओं के कारण कोई नागरिक इससे वंचित न रहे । समान अवसर न्याय की पहुंच के लिए प्रदान किया जाना चाहिए । यह पर्याप्त नहीं है कि विधि व्याप्त असमानताओं के बावजूद सभी व्यक्तियों के साथ समान रूप से बर्ताव करती है । लेकिन विधि को इस तरह से कार्य करना चाहिए कि सभी व्यक्ति आर्थिक असमानताओं के बावजूद न्याय प्राप्त कर सकें । " न्याय की पहुंच" पद विधिक प्रणाली के निम्नलिखत मूलभूत प्रयोजनों पर दृष्टि डालता है :–

1. प्रणाली समानतः सभी लोगों के पहुंच योग्य होनी चाहिए ।
2. इसका यह परिणाम निकलना चाहिए कि यह व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से ठीक है ।

1.6 आम व्यक्ति द्वारा ज्ञात "न्याय की पहुंच" की पारंपरिक अवधारणा का अभिप्राय न्यायालय में पहुंच है । आम व्यक्ति के लिए न्यायालय एक ऐसा स्थल है जहां से उसे न्याय मिलता है । लेकिन न्यायालय गरीबी, सामाजिक और राजनैतिक पिछड़ापन, निरक्षरता, अज्ञानता, प्रक्रियागत औपचारिकता और इसी तरह जैसे विभिन्न अवरोधों के कारण पहुंच योग्य नहीं रह गए हैं ।

1.7 न्यायालयों के माध्यम से न्याय प्राप्त करने के लिए मुकदमेबाजी में अन्तर्ग्रस्त खर्चीली प्रक्रिया और न्यायालय परिसर में जाना पड़ता है । व्यक्ति को न्यायालय फीस और वस्तुतः अधिवक्ता फीस समेत मुकदमेबाजी का खर्च वहन करना पड़ता है । निर्धन वादकारी, जो मुश्किल से स्वयं का गुजारा करने में समर्थ हैं, न्यायालयों के माध्यम से उसके प्रति किए गए गलत कार्य के लिए न्याय पाने या विधिक प्रतितोष अभिप्राप्त करने में समर्थ नहीं होता । इसके अतिरिक्त भारत की जनसंख्या का वृहत् भाग निरक्षर है और घोर गरीबी में रहता है । अतः वे न्यायालय प्रक्रियांओं के बारे में बिलकुल अनभिज्ञ हैं और भयभीत तथा भ्रमित रहते हैं जब उन्हें न्यायिकतंत्र का सामना करना पड़ता है । इस प्रकार भारत के अधिकांश नागरिक अपने संवैधानिक या विधिक अधिकारों को लागू कराने की स्थिति में नहीं हैं जो वस्तुतः असमानता पैदा करता है ।

1.8 कल्याणकारी राज्य का न्यायिक और गैर-न्यायिक विवाद समाधान तंत्र उपलब्ध कराने का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य है जो अपने विधिक विवादों के निपटान के लिए और अपने मूल तथा विधिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए सभी नागरिकों की समान पहुंच में हो । गरीबी अज्ञानता या सामाजिक असमानता इसमें अवरोध पैदा न करे । मेनका गांधी[1] का सिद्धांत, जैसा भारतीय उच्चतम न्यायालय द्वारा उपवर्णित किया गया है, कि मूल अधिकार स्वयं में पृथक् उपद्वीप गठित न करे बल्कि एक महाद्वीप

---

[1] (1978) 1 एस. सी. सी. 248.

गठित करे जिसे न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर न्याय की पहुंच का विधिशास्त्र कहते हैं । उन्होंने कहा :–

> " हमें न्याय की पहुंच के विधिशास्त्र का विस्तार सामाजिक न्याय के अभिन्न भाग के रूप में करना चाहिए और हमारे राष्ट्र के संविधान में रेखांकित मानव अधिकारों के फलक के रूप में न्यायालय फीस उद्ग्रहण की संवैधानिकता की जांच करनी चाहिए । यदि स्वयं राज्य इस मूल सिद्धांत का अनुच्छेद 14 और 39क के अधीन इसका उपहास करेगा जहां निर्धन विधवा अन्तर्वलित है वहां इसकी नीति पर फिर से विचार करना बहुत जरूरी है । न्यायालय को न्याय मंदिर में प्रवेश करने की कीमत के उद्ग्रहण् के विरुद्ध संदेह का फायदा देना चाहिए जब तक न्यायालय फीस के रूप में भ्रमित सिविल न्याय के विक्रय के माध्यम से लाभ कमाने की विधिमान्यता के पूरे मुद्दे की इस न्यायालय द्वारा पूरा पुनर्विलोकन नहीं किया जाता ।[2]

1.9 यथापूर्वोक्त, अनुच्छेद 39क समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता के बारे में है । उक्त अनुच्छेद समान अवसर के आधार पर न्याय के संवर्धन के लिए उपयुक्त विधान या स्कीम या किसी अन्य माध्यम द्वारा निःशुल्क विधिक सहायता देने के लिए राज्य पर बाध्यता अधिरोपित करता है । अनुच्छेद 39क विधिक न्याय पर बल देता है । नीति निदेशक तत्व राज्य से पात्र व्यक्तियों को निःशुल्क विधिक सहायता उपलब्ध कराने की अपेक्षा करता है जिससे कि कोई भी मात्र आर्थिक असमर्थता के कारण न्याय से वंचित न रहे । शीला बार्से बनाम महाराष्ट्र राज्य[3] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि गिरफ्तार और अपने प्राण या दैहिक स्वतंत्रता के जोखिम ग्रस्त गरीब या अकिंचन अभियुक्तों को विधिक सहायता, न केवल संविधान के अनुच्छेद 39क द्वारा बल्कि अनुच्छेद

---

[2] हरियाण राज्य बनाम दर्शना देवी, ए. आई.आर. 1979 एस. सी. 855.

[3] ए. आई. आर. 1983 एस. सी. 378.

14 और 21 द्वारा भी संवैधानिक अधिदेश है । विधिक सहायता के अभाव में, अन्याय हो सकता है । अन्याय का प्रत्येक कार्य लोकतंत्र और विधि के नियम के आधार को क्षीण करता है । अनुच्छेद 39क यह स्पष्ट करता है कि समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता के सामाजिक उद्देश्य का क्रियान्वयन निःशुल्क विधिक सहायता के लिए उपयुक्त विधान द्वारा या स्कीमें विरचित कर किया जाना चाहिए ।

1.10 यद्यपि अनुच्छेद 39क संविधान में वर्ष 1976 में शामिल किया गया था लेकिन न्याय की पहुंच का उद्देश्य "लोकहित मुकदमेबाजी आन्दोलन" में उच्चतम न्यायालय द्वारा निभायी गई प्रखर भूमिका के बिना पूरा नहीं हो सकता था । यह ऐसा आन्दोलन है जिसके द्वारा कोई लोक कल्याण से ओत-प्रोत व्यक्ति आम जनता को प्रभावित करने वाले किसी दोष से उपचार करने के लिए न्यायालय में जा सकता है । यह समाज के निम्नतम स्तर के लोगों को न्याय की पहुंच प्रदान करने में उच्चतम न्यायालय द्वारा एक महत्वपूर्ण कदम है । इसके अतिरिक्त, यह लोक हित में फाइल किए गए मामलों के कारण ही था कि उच्चतम न्यायालय गरीब और अकिंचन व्यक्तियों को विधिक सहायता सेवा को प्रोत्साहित करने में समर्थ हुआ । लोकहित वाद के माध्यम से न्यायालय बंधुआ श्रमिक, दलित महिलाओं, बच्चों, शारीरिक रूप से विकलांग, मानसिक रूप से विकलांग और इसी प्रकार के जैसे अन्याय और शोषण से ग्रस्त गरीब लोगों के बारे में ध्यान देने में समर्थ हैं ।

1.11 लोक अदालत, न्याय पंचायत, विधिक सेवा प्राधिकरण लोगों को न्याय दिलाने और यह सुनिश्चित करने के अभियान के भाग हैं कि सामाजिक और आर्थिक पिछड़ापन जैसे विभिन्न अवरोधों के बावजूद न्याय पाने के लिए सभी लोगों की समान पहुंच में हैं ।

1.12 न्यायपालिका लोकहित वाद के माध्यम से शोषित, अकिंचन और असहाय व्यक्तियों को न्याय दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है । विधिक सहायता नेटवर्क अपनी जड़ें गहरी जमाती जा रही है और विधिक

सेवा कृत्यकारी विधि के समक्ष समता के संवैधानिक वादे को पूरा करने में सक्रिय रूप से लगे हुए हैं । पात्र व्यक्तियों को विधिक सहायता की व्यवस्था, सलाह और सुलह द्वारा और उसके असफल होने पर लोक अदालतों द्वारा उनके विधिक विवादों का शीघ्र निपटान विधिक शिक्षा जागरुकता कार्यक्रम चलाकर विधिक सेवा कृत्यकारियों की कार्यसूची पर ऊँचे स्थान पर हैं । वस्तुतः, हमें काफी दूर जाना है जब यह दावा कर सकें कि सभी लोगो के लिए समान न्याय का क्षेत्र वास्तविकता हो गई है । भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायमूर्ति डा. ए. एस. आनन्द की यह इच्छा है कि अगली शताब्दी मुकदमेबाजी की शताब्दी नहीं होगी बल्कि बातचीत, सुलह और माध्यस्थम् की शताब्दी होगी । न्यायालयों में लंबित और वाद-पूर्व प्रक्रम पर दोनों प्रकार के विवादों क निपटान के लिए इस स्वप्न को पूरा किया जाना है । जहां बहुत मामले लंबित हैं वहां अधिकांश स्थायी लोक अदालतों की स्थापना करना ही रामबाण है जिसमें सेवारत और सेवानिवृत्त दोनों प्रकार के न्यायिक अधिकारियों की दक्षता का उपयोग सुलह द्वारा मामलों के निपटान में किया जा सकता है । हमारे देश के अधिकांश उपभोक्ता निर्धनता, निरक्षरता, सामाजिक पिछड़ापन और भौगोलिक अवरोधों के कारण भी न्याय पाने में हतोत्साहित महसूस कर रहे हैं ।

1.13 पहले, भारत मे विवादों का निपटान पंचायत के नाम से ज्ञात ग्राम के बुजुर्गों की परिषद् द्वारा किया जाता था । यह प्रतिवाद निपटान का स्वीकृत तरीका था । वैदिक समय से, अनौपचारिक लेकिन चरम निपटान प्रणालियों के माध्यम से शीघ्र और प्रभावी न्याय के सामाजिक लक्ष्य को प्राप्त करने में अग्रणी रहा है । अनुकल्पी विवाद समाधान भारत के लिए नया नहीं है और औपनिवेशिक ब्रिटिश शासकों द्वारा आधुनिक न्याय प्रणाली को लागू करने के पूर्व एक या अन्य प्ररूप में अस्तित्व में रहा है । विभिन्न प्रकार के ऐसे माध्यस्थम् निकाय हैं जो भारत के विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में की महत्वपूर्ण पंचायती राज प्रणाली के आविर्भाव के प्रेरक हैं । पंचायत के विनिश्चय स्वीकार किए जाते थे और आबद्धकर माने जाते थे । 1982 में,

गुजरात राज्य के जूनागढ़ में लोक अदालत (लोगों का न्यायालय) के रूप में अनुकल्पी विवाद समाधान का एक मंच सृजित किया गया । लोक अदालतों की उपयोगिता को देखते हए, भारत सरकार ने भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायमूर्ति श्री पी. एन. भगवती की अध्यक्षता में 1980 में एक समिति गठित की और बाद में संसद ने संविधान के अनुच्छेद 39क के अधिदेश को ध्यान मे रखते हुए विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 अधिनियमित किया । अपनी सही भावना में क्रियान्वित विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 ने विवादों के शीघ्र समाधान के लिए लोक अदालतों में लोकप्रियता और उपयोगिता सृजित की ।

1.14 स्थायी और सतत् लोक अदालतों के गठन के पीछे दर्शन यह है कि हमारे देश में, आम वादकारी को सलाह के लिए अब तक कोई कानूनी मंच उपलब्ध नहीं कराया है और इस प्रकार, ये लोक अदालत स्वयं सलाहकार और सुलहकार की भूमिका उठा सकते हैं । अनुकल्पी विवाद समाधान तरीके के रूप में लोक अदालत के प्रयोग को भारत में व्यवहार्य, कम खर्चीला, प्रभावपूर्ण और अनौपचारिक रूप में स्वीकार किया जा रहा है । लोक अदालत विषयक उपबंध विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 की धारा 19 से 22 तक में अंतर्विष्ट हैं ।

1.15 2002 में यथासंशोधित विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 की धारा 22ख स्थायी लोक अदालतों की स्थापना को समर्थ बनाती है और इसकी उपधारा (1) इस प्रकार है :–

> " धारा 19 में किसी बात के होते हुए भी, केन्द्रीय प्राधिकारी या यथास्थिति, प्रत्येक राज्य प्राधिकारी अधिसूचना द्वारा ऐसे स्थानों पर और एक या अधिक लोक उपयोगिता सेवाओं की बाबत ऐसी अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए और ऐसे क्षेत्रों के लिए जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट की जाए, स्थायी लोक अदालतों की स्थापना करेगा । "

1.16 प्रत्येक जिला न्यायालय परिसर में स्थापित स्थायी और सतत लोक अदालतें वादकारियों को कानूनी मंच उपलब्ध कराते हैं जहां वे स्वयं मुकदमेबाजी के पहले जा सकते हैं और न्यायालय में लंबित मामलों में सलाह और सुलह के लिए भी उन्हें निर्दिष्ट कर सकते हैं । ये स्थयी और सतत लोक अदालतें निश्चित ही वैवाहिक, मकान मालिक-किराएदार, संपत्ति और वाणिज्यिक विवाद, आदि से उद्भूत अधिक जटिल मामलों में सुलहकारी निपटान का प्रयास करने की बेहतर स्थिति में होंगी जहां देने और लेने के वातावरण में अपने विवादों के निपटान के लिए पक्षकारों को मनानेऔर प्रेरित करने के लिए बार-बार बैठक की अपेक्षा है ।

1.17 स्थायी और सतत् लोक अदालतों द्वारा वाद-पूर्व प्रक्रम पर विधिक विवादों का निपटान इस देश के नागरिकों को व्यय-मुक्त न्याय उपलब्ध कराता है । यह न्यायालयों को छोटे मामलों के अतिरिक्त और परिहार्य भार से भी बचाता है जिससे वे अपने न्यायालय समय को अधिक जटिल और पुराने मामलों की ओर देने में समर्थ हो सकें ।

1.18 स्थायी और सतत् लोक अदालतों का दर्शन देश के गरीब और पददलित के प्रति अनुकम्पा और चिन्ता के बीज से अंकुरित होता है और हम सभी लोगों से सहयोग की अपेक्षा है जिससे यह विकसित होकर पेड़ बने और सभी को फल, सुगन्ध और छाया दे ।

1.19 विधि सेवा प्राधिकरण (संशोधन) अधिनियम, 2002 के पूर्ववर्ती विधेयक से संलग्न उद्देश्यों और कारणों के कथन में यह इंगित किया गया है कि लोक अदालत प्रणाली, जो अनुकल्पी विवाद समाधन का नवीन तंत्र है, न्यायालयों के बाहर सुलह की भावना से विवादों के निपटान में प्रभावी सिद्ध हुई है ।

1.20 दिल्ली विधिक सेवा प्राधिकरण ने सरकारी निकायों/विभागों में 9 स्थायी लोक अदालतें गठित की हैं और 7 एम ए सी टी स्थायी लोक

अदालतें दिल्ली में नियमित रूप से कार्य कर रही हैं ।[4]

1.21 हमें दृढ़ विश्वास है कि विधिक साक्षरता और विधिक जागरुकता हमारे देश के नागरिकों के लिए विधि के समक्ष समता का उद्देश्य प्राप्त करने का मुख्य माध्यम है । विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम के उद्देश्य को प्राप्त करने और विधिक सहायता कार्यक्रम को सार्थक और प्रयोजनपूर्ण बनाने के लिए सभी प्रयास किए जाने चाहिए ।

1.22 विधिक साक्षरता के बिना विधिक सहायता का महत्व और प्रयोजन कम है । इसलिए, यह काफी उपयोगी होगा यदि स्वयं प्राथमिक शिक्षा स्तर से ही अनिवार्य विषय के रूप में कुछ महत्वपूर्ण विधिक प्रकरण शामिल किया जाए । ऐसी विधिक शिक्षा से लोग विधि विशेषज्ञों से सहायता लिए बिना जो सामान्यतः खर्चीली है, निचले स्तर पर न्यायालयों के बाहर अपने विवादों को निपटाने में समर्थ होंगे ।

1.23 यह उचित समय है कि गरीब और जरूरतमंद लोगों के लिए उनकी शिकायतों के निपटान के लिए शीघ्र मंच का सृजन किया जाए । जैसाकि हम सभी जानते हैं, चाहे जिस भी कारण से, न्यायालयों में मामलों के निपटान में विलम्ब से वस्तुतः वह प्रयोजन विफल हो गया है जिसके लिए लोग न्यायालयों में आते हैं । यह कहा गया है कि विलंबित न्याय, न्याय न मिलने के समान है । इसलिए, हमें ऐसे गरीब और जरूरतमंद लोगों के लिए जो न्यायालयों के माध्यम से अपनी शिकायतें दूर करना चाहते हैं, को सामाजिक न्याय देने के लिए एक मध्यम मार्ग का पता लगाना होगा ।

1.24 यह ढाढ़स देता है कि संसद ने बहुत हाल ही में ग्राम न्यायालय अधिनियम, 2008 का अधिनियमन किया है । ग्राम न्यायालों की स्थापना माध्यम से, जो ग्रामीण क्षेत्रों के लोगो को शीघ्र, सस्ता और सारवान न्याय दिलाने के लिए एक स्थान से दूसरे जाएगा, आम आदमी के स्वप्न के रूप

---

[4] http://dlsa.nic.in/Lokadalat.html., 14.4.2009 को देखा ।

में उनके दरवाजों पर गरीब को न्याय का लक्ष्य प्राप्त करने की ईप्सा की गई है ।

## आधुनिक भारत में अनुकल्पी विवाद समाधान

1.25 पहली बार जहां सुलह को विधि द्वारा प्रभावी रूप से लागू किया गया और मान्यता प्रदान की गई है, श्रम विधि अर्थात् औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 का क्षेत्र है । सुलह को कर्मकारों और प्रबंधन के बीच विवादों के संबंध में विवाद समाधान के प्रभावी तरीके के रूप में कानूनी रूप से मान्यता प्रदान की गई है । औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 का उपबंध बातचीत द्वारा और इसके असफल होनें पर, मुकदमेबाजी का सहारा लेने के पूर्व सरकार के अधिकारी के माध्यम से सुलह द्वारा विवादों के निपटान को लागू होता है ।

1.26 राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम बनाम कृष्ण कान्त[5] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

> " औद्योगिक विवाद अधिनियम और इसके समरूप अधिनियमितियों से प्रकट विधि की नीति, कर्मकारो का ऐसा अनुकल्पी विवाद समाधान तंत्र जो शीघ्र, सस्ता, अनौपचारिक और अनेक प्रक्रियागत विधियों तथा सिविल न्यायालयों को लागू अपील के विरुद्ध अपील और पुनरीक्षणों द्वारा भारमुक्त है, उपलब्ध कराना है । वस्तुतः, औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन न्यायालयों और अधिकरणों की शक्तियां इस अर्थ में काफी अधिक विस्तारी हैं कि वे ऐसा अनुतोष प्रदान कर सकते हैं क्योंकि वे परिस्थितियों में औद्योगिक विवाद समाप्त करने के लिए परिस्थितियों में उचित समझते हैं ।"

1.27 भारत के न्यायालयों ने केवल माध्यस्थम् के क्षेत्र में ही अनुकल्पी विवाद समाधान को मान्यता दी है । माध्यस्थम् मूलतः सिविल प्रक्रिया संहिता समेत विभिन्न अधिनियमितियों के उपबंधों द्वारा शासित था ; प्रथम

---

[5] 1995 (5) एस. सी. सी. 75.

भारत माध्यस्थम् अधिनियम, 1899 में अधिनियमित किया गया था जिसका प्रतिस्थापन माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 द्वारा किया गया । न्यायालय माध्यस्थम् अधिकरण के पर्यवेक्षण से बहुत चिन्तित थे और वे यह देखने के लिए बहुत उत्सुक थे कि मध्यस्थ ऐसे मुद्दे को, विनिश्चित करते समय जो उसे माध्यस्थम् के लिए निर्दिष्ट किया गया था, अपनी अधिकारिता से अधिक कार्य किया है ।

1.28 न्यायालयों में पक्षकारों के बीच विवादों के निपटान में बहुत विलम्ब होता था जो अन्य देशों द्वारा भारत में धन का निवेश करने से रोकता था । भारत ने आरंभतः 1991 में आर्थिक सुधार के रूप में हाल ही के वर्षों में अपनी माध्यस्थम् विधि में प्रमुख सुधार किए हैं । इस प्रकार, संसद द्वारा घरेलू और अंतरराष्ट्रीय विवादों से संबंधित माध्यस्थम् में सारवान सुधार लाने के लिए माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 का अधिनियमन किया गया ।

1.29 कोंकण रेलवे कारपोरेशन लि. बनाम मैसर्स मेहुल कन्स्ट्रक्शन कं.[6] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 के विकास और अधिनियम के मुख्य उपबंधों को संक्षेप में इस प्रकार रूपायित करता है :–

> " 4. आरंभ में ही, यह ध्यान में आता है कि 1996 अधिनियम के पूर्व 1940 का माध्यस्थम् अधिनियम जो भारत में प्रवृत्त था, में घरेलू माध्यस्थम का उपबंध था और विदेशी पंचाटों पर विचार करने का कोई उपबंध नहीं था । जहां तक विदेशी पंचाटों का संबंध है, इन पर माध्यस्थम (प्रोटोकोल और कन्वेंशन) अधिनियम, 1937 और विदेशी पंचाट (मान्यता और प्रवर्तन) अधिनियम, 1961 द्वारा विचार किए जा रहे थे । वैश्विक व्यापार के बढ़ते विकास और कई देशों में सामान्य प्रणाली के अधीन मामलों के निपटान में विलम्ब ने

---

[6] 2000 (6) स्केल 71.

अनुकल्पी विवाद समाधन प्रणाली की अवधारणा विशेष कर वाणिज्यिक मामलों में, अनिवार्य बना दिया । जब संपूर्ण विश्व वाणिज्यिक विवादों के शीघ्र समाधान के पक्ष में था तो यूनाइटेड नेशन्स कमीशन आन इन्टर नेशनल ट्रेड ला ने काफी पहले 1985 में अनसीट्राल माडल ला आफ इन्टरनेशनल वाणिज्यिक माध्यस्थम् को स्वीकार किया और तब से अनेक देशों में अपने संबद्ध विधायी प्रणाली में उस माडल को मान्यता दी । उक्त अनसीट्राल माडल विधि को ध्यान में रखते हए उस भारतीय माध्यस्थम्, 1940 देश में माध्यस्थम् पर मुख्य विधान था जो ब्रिटिश शासन के दौरान अधिनियमित किया गया था, के स्थान पर भारत में वर्तमान माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 अधिनियमित किया गया । माध्यस्थम् 1996 न केवल घरेलू माध्यस्थम् बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक माध्यस्थम् को भी अपनी परिधि में समेटता है । विदेशी माध्यस्थम् पंचाटों के प्रवर्तन विषयक भारतीय विधि माध्यस्थम् प्रक्रिया में अधिक स्वायत्तता प्रदान करती है और पूर्व विधि की तुलना में संकीर्ण परिधि में न्यायिक हस्तक्षेप को सीमित करती है । अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक समुदाय को विश्वास दिलाने और भारत की नई उदार नीति के पश्चात् विश्व के शेष देशों से भारत के व्यापार और वाणिज्यिक संबंध की मात्रा को देखते हुए भारतीय संसद् अनसीट्राल माडल में माध्यस्थम् और सुलह,1996 का अधिनियमन करने के लिए राजी हुआ इसलिए 1996 के अधिनियम के किन्हीं उपबधों का निर्वचन करने में न्यायालयों को 1996 की अधिनियमिति के उद्देश्यों और प्रयोजनों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 के विभिन्न उपबधों की माध्यस्थम् और सुलह सअधिनियम, 1996 के उपबंधों की तुलना मात्र से स्पष्टतः यह उपदर्शित होता है कि 1996 अधिनियम माध्यस्थम् प्रक्रिया में न्यायालय के हस्तक्षेप को सीमित करना है

और निश्चित ही यह विधायी आशय नहीं है कि अधिनियम के अधीन प्राधिकारी द्वारा पारित प्रत्येक आदेश न्यायालय की न्यायिक संवीक्षा की विषय-वस्तु होगा । नई विधि के अधीन वे आधार जिन पर मध्यस्थ के पंचाट की चुनौती न्यायालय के समक्ष की जा सकती है कड़ाई से निकाल दिया गया है और ऐसी चुनौती अब करार की अविधिमान्यता, मध्यस्थ की ओर से अधिकारिता की कमी या मध्यस्थ या मध्यस्थ कार्यवाही की नियुक्ति की एक पक्षकार को उचित नोटिस की कमी के आधार पर अब अनुज्ञात है । मध्यस्थ की शक्तियों को कई मामलों के विनिर्दिष्ट उपबंधों के अन्तःस्थापन द्वारा बढ़ाया गया है । माध्यस्थम् कार्यवाहियों में पक्षकारों द्वारा अपनाई जाने वाली अड़चन युक्तियों को व्यक्त उपबंधों द्वारा विफल किए जाने की ईप्सा की गई है क्योंकि यदि कोई पक्षकार जानबूझ कर चुप रहता है और तब अचानक प्रक्रियागत आक्षेप उठाता है तो उसे ऐसा करने की अनुज्ञा नहीं दी जाएगी । माध्यस्थम को संवर्धित करने और संगणित करने में संस्थाओं की भूमिका को मान्यता प्रदान की गई है । मध्यस्थ नामित करने की शक्ति मुख्य न्यायमूर्ति या उसके द्वारा अभीहित किसी संस्था या व्यक्ति को दी गई है । पंचाट करने की समय सीमा का लोप कर दिया गया है । न्यायालयों के हस्तक्षेप के माध्यम से माध्यस्थम विषयक, 1940 अधिनियम के विद्यमान उपबंधों को, जब कोई वाद लम्बित नहीं है या न्यायालय के आदेश द्वारा जब वाद लम्बित है, हटा दिया गया है । राष्ट्र के बाहर वाणिज्यिक माध्यस्थम् को मान्यता दी गई है और विनिर्दिष्ट रूप से यह उपबंध किया गया है कि जहां माध्यस्थम् भारत में किया गया हो वहां संविदा के पक्षकार विवाद के मर्म को लागू विधि को अभिहित करने के लिए स्वतंत्र होंगे । नई विधि के अधीन जब तक करार में अन्यथा उपबंधित न हो, मध्यस्थों से पंचाट के लिए कारण

बताने की अपेक्षा है । स्वयं पंचाट में अब डिक्री की प्रास्थिति निहित है क्योंकि स्वयं पंचाट को डिक्री के रूप में निष्पाद बनाया गया है और पंचाट के निबंधनों के अनुसार न्यायालय से डिक्री के लिए आवेदन करने की अब आवश्यकता नहीं होगी । यह सभी लक्ष्य न्यायालय के न्यूनतम हस्तक्षेप के बिना यथासंभव शीघ्र विवाद का समाधन करने के एकमात्र उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए हैं जिससे कि न्यायालय के समक्ष मुकदमों के कारण व्यापार और वाणिज्य पर प्रभाव न पड़े । जब यूनाइटेड नेशन्स ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार विधि पर आयोग की स्थापना की थी, यह इस तथ्य के कारण है कि साधारण सभा ने यह मान्यता प्रदान की थी कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को लागू राष्ट्रीय विधियों में असमानता व्यापार की गति में बाधा पैदा करती है । साधारण सभा ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार विधि आयोग को ऐसे माध्यम के रूप में माना जो बाधाओं को कम करने या हटाने में अधिक सक्रिय भूमिका अदा कर सकती है । अतः, ऐसे आयोग को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की विधि के प्रगतिगामी सामंजस्य और एकीकरण के लिए एक अधिदेश दिया गया । उस उद्देश्य के साथ जब अन्सीट्राल मोडल तैयार किया गया और हमारे देश की संसद ने अन्सीट्राल मोडल स्वीकार करते हए माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 अधिनियमित किया गया तो अधिनियम के किन्हीं उपबंधों का निर्वचन करते समय विवेक उक्त उद्देय को ध्यान मे रखना समुचित होगा । अधिनियम के उद्देश्यों और कारणों का कथन स्पष्टतः वर्णित करता है कि विधान का मुख्य उद्देश्य मध्यस्थ प्रक्रिया में न्यायालय की पर्यवेक्षणीय भूमिका को न्यूनतम करना था ।"

1.30 कुटुम्ब न्यायालय अधिनियम, 1984 का अधिनियमन विवाह और कुटुम्ब क्रियाकलाप विषयक विवादों का शीघ्र निपटान सुनिश्चित करने के लिए सुलह का संवर्द्धन करने की दृष्टि से कुटुम्ब न्यायालयों की स्थापना

के लिए किया गया था । कुटुम्ब न्यायालय अधिनियम की धारा 5 में समझौता कराने के लिए कुटुम्ब न्यायालय की सहायता हेतु समाज कल्याण संगठनों के संगम की अपेक्षा के लिए सरकार के लिए समर्थकारी उपबंध है । अधिनियम की धारा 6 में कुटुम्ब मामलों के प्रभावी समझौते के लिए स्थायी सलाहकारों की नियुक्ति का उपबंध है । इसके अतिरिक्त अधिनियम की धारा 9 मामले में साक्ष्य लेने के पूर्व समझौते के लिए प्रयास करने के लिए कुटुम्ब न्यायालय पर बाध्यता अधिरोपित करता है । इस विस्तार तक अनुकल्पी विवाद समाधान को कुटुम्ब मामलों के निपटान के मामले में काफी मान्यता प्रदान की गई है । इसी प्रकार का उपबंध सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32क में अंतर्वष्ट है जो कुटुम्ब मामलों के बारे में है । अधिनियम की धारा 4(4)(क) के अनुसार, कुटुम्ब न्यायालयों में व्यक्तियों को न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए चयन करने में यह सुनिश्चित करने का प्रत्येक प्रयास किया जाएगा कि विवाह संस्था का संरक्षित और रक्षित करने और बच्चो के कल्याण के संवर्धन की आवश्यकता के प्रति वचनबद्ध है और सुलह और सलाह द्वारा विवादों का निपटान करने में अपने अनुभव और विशेषज्ञता के कारण अर्ह व्यक्तियों का चयन किया जाए ।

1.31 उपभोक्ताओं के विवादों के निपटाने के लिए उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 का अधिनियमन एक अन्य सही और स्वागतयोग्य कदम था । अधिनियम में उपभोक्ताओं की शिकायतों का प्रभावी, सस्ता, साधारण और शीघ्र प्रतितोष का उपबंध है जिसे सिविल न्यायालय उपलब्ध कराने में समर्थ नहीं है । यह अधिनियम उपभोक्ताओं के विवादों के प्रभावी न्यायनिर्णयन के लिए अनुकल्पी विवाद समाधन एक अन्य दृष्टांत है । अधिनियम उपभोक्ताओं की शिकायतों के प्रतितोष के लिए त्रिस्तरीय मंच अर्थात् जिला पीठ, राज्य आयोग और राष्ट्रीय आयोग का उपबंध करता है काफी संख्या में उपभोक्ता अपनी शिकायतों के शीघ्र प्रतितोष के लिए इन मंचों का उपयोग करते हैं । उपभोक्ता कार्यकर्ता, स्वैच्छिक उपभोक्ता संगठन और अन्य सामाजिक सक्रिय समूहों द्वारा उपभोक्ताओं की ओर से

सामाजिक कार्य मुकदमेंबाजी में भी तेजी आई है ।

1.32 अनुकल्पीविवाद समाधान के फायदे :–

1. यह कर्म खर्चीला है ।
2. इसमें कम समय लगता है ।
3. यह न्यायालों में चलने वाले मामलों की तरह तकनीकियों से मुक्त है ।
4. पक्षकार किसी न्यायालय के समक्ष इस तथ्य के प्रकटन के किसी भय के बिना अपने मतभेदों पर चर्चा करने के लिए स्वतंत्र हैं ।
5. पक्षकारों मे यह अहसास होता है कि उनके बीच कोई हारने या जीतने का पक्ष नहीं है लेकिन वहीं उनकी शिकायतें दूर हो जाती हैं और उनके संबंध पुनः कायम हो जाते हैं ।

1.33 यह समय की आवश्यकता है कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के अपने सभी पहलुओं में कोई अतिरिक्त समय खोये बिना इस देश की आम जनता को दिए जाने की अपेक्षा है । नई रणनीति में सुलह, मध्यस्थता और बातचीत द्वारा विवाद-समाधान शामिल है । संविधान की उद्देशिका के वायदे के अनुसार सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय दिलाने के संवैधानिक वायदे को तब तक चरितार्थ नहीं किया जा सकता है जब तक राज्य के तीन अंग अर्थात् विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका भारतीय गरीब व्यक्तियों को राज्य की न्याय प्रणाली की समान पहुंच दिलाने के तरीकों का पता लगाने के लिए एक साथ मिलकर काम नहीं करते ।

1.34 सितनना बनाम मारीवदा विराना[7] वाले मामले में प्रिवी काउन्सिल ने

---

[7] ए. आई. आर. 1934 पी. सी. 105.

कुटुम्ब विवाद में पंचायत के विनिश्चय की पुष्टि की । न्यायमूर्ति सर जॉन वाल्लिस ने विधि का निम्न शब्दों में कथन किया :–

> " ग्राम पंचायत का निर्देश इस प्रकार के विवादों का विनिश्चय करने के कालापेक्षित तरीका है और इसमें ये फायदे हैं कि यह सही तथ्यों को सुनिश्चित करने में पंचायतदारों के लिए तुलनात्मकतः आसान है, और यह जैसाकि इस मामले में यह लम्बी मुकदमेबाजी से बचाता है जो संपदा के लिए विनाशक साबित हो सकता है जैसा साक्षियों में से एक साक्षी द्वारा व्यक्त किया गया है । समग्र साक्ष्य का परिशीलन करते हुए माननीय न्यायाधीशों को संदेह का कोई कारण नहीं दिखा कि पंचाट निष्पक्ष था और संदेहास्पद दावे का खरा निपटान विधिक और नैतिक दोनों आधारों पर था अतः उनकी राय है कि इसमें हस्तक्षेप करने का कोई आधार नहीं है ।"

1.35 अनुकल्पी विवाद समाधान तरीकों के उपयोग में काफी नमनीयता है । नमनीयता प्रक्रिया और समाधान के तरीके जिसके आधार पर विवाद का निपटान किया जाता है, में पाई जाती है । समाधान समस्या विनिर्दिष्ट हो सकती है । विवाद-समाधान के प्रतिकूल तरीके में यथा-प्रयुक्त नजीर की कठोरता सृजनात्मक तरीके से विवादों का समाधान करने के तरीके में नहीं आएगी ।

1.36 यदि अनुकल्पी विवाद समाधान तरीका सफल हो जाता है तो पक्षकार न केवल संतुष्ट हो जाएंगे बल्कि उनके बीच विद्यमान विद्वेष भी समाप्त हो जाएगा । अनुकल्पी विवाद समाधन तरीका विशेषकर मध्यस्थता और सुलह न केवल विवाद को सुलझाते हैं बल्कि वे विवाद के पीछे छिपी भावनाओं पर भी ध्यान देते हैं । वस्तुतः, अनुकल्पी विवाद समाधान को सफल बनाने के लिए सर्वप्रथम पक्षकारों के बची विद्यमान भावनाओं और अहं पर भी ध्यान देना होगा । एक बार यदि भावनाओं और अहं को प्रभावी रूप से समझ लिया जाए तो विवाद का समाधान करना बहुत आसान हो

जाता है । इसमें मध्यस्थ् और सुलहकर्त्ता की बुद्धिमत्ता और सलाह देने की दक्षता की अपेक्षा होती है ।

1.37 अनुकल्पी विवाद समाधान तरीका सहभागी प्रकृति का है और विवाद के पक्षकारों के पास समाधान-निष्कर्ष प्रक्रिया में भाग लेने की गुंजाइश है । परिणामस्वरूप, वे वचनबद्धता के साथ समाधान का सम्मान करते हैं । कुल मिलाकर, अनुकल्पी विवाद समाधान तरीके सस्ते हैं और गरीबों की भी पहुंच में हैं । आजकल,ऐसी कुछ भ्रांति है जब यह माध्यस्थम् में उपगत खर्चों के बारे में होती है । कालक्रमानुसार, जब अच्छे योग्यताधारक मध्यस्थों की संख्या बढ़ जाएगी तो माध्यस्थम् का व्यय भी कम हो जाएगा । अनुकल्पी विवाद समाधान सेवाओं की गुणता के सुधार में और उन्हें वस्तुतः सस्ता बनाने में संस्थागत माध्यस्थम् की प्रोन्नति में काफी समय लगेगा ।

1.38 अनुकल्पी विवाद समाधन तरीकों के विकास से यह अनेक वादकारियों की पहुंच में हो जाएगी । यह न्यायपालिका के भारी कार्यभार को कम करने में सहायता पहुंचाती है न केवल न्याय की पहुंच बल्कि न्याय की गुणता का भी सुधार करने में काफी समय लगेगा ।

1.39 हमने ऊपर माध्यस्थम् के बारे में चर्चा की जो माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 11 के अधीन मुख्य न्यायमूर्ति या मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा पदाभिहित या पक्षकारों द्वारा नियुक्त माध्यस्थम् अधिकरण के माध्यम से पक्षकारों के बीच विवाद-समाधान की एक प्रक्रिया है । पक्षकारों को अपनी सुविधा के अनुसार तदर्थ माध्यस्थम् या संस्थागत माध्यस्थम् से विवाद निपटाने का विकल्प है ।

1.40 तदर्थ माध्यस्थम्, माध्यस्थम् संस्था का अनुक्रम अपनाए बिना स्वयं पक्षकारों द्वारा सहमत और व्यवस्थित माध्यस्थम् है । तदर्थ माध्यस्थम् में, यदि पक्षकार इस बात पर सहमत नहीं हैं कि कौन मध्यस्थ होगा या पक्षकारों में से एक मध्यस्थ नियुक्त करने में सहायता करने में अनिच्छुक है

तो अन्य पक्षकार को माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 11 का अवलम्ब लेना होगा जिसके अधीन उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति या उनका पदाभिहित व्यक्ति मध्यस्थ नियुक्त करेगा । अन्तरराष्ट्रीय वाणिज्यिक माध्यस्थम् के मामले में यह भारत का मुख्य न्यायमूर्ति या उसका पदाभिहित व्यक्ति होगा । तदर्थ माध्यस्थम् में, मध्यस्थ की फीस पक्षकारों और मध्यस्थ द्वारा सहमति के आधार पर होगी । यह वर्तमान भारतीय अनुभव है कि मध्यस्थ की फीस तदर्थ माध्यस्थम् में काफी अधिक है ।

1.41 संस्थागत माध्यस्थम् माध्यस्थम् संस्था द्वारा प्रशासित एक माध्यस्थम् है । पक्षकार उनके बीच विवाद का निपटान एक विशिष्ट संस्था द्वारा करने हेतु माध्यस्थम् को निर्दिष्ट करने के लिए माध्यस्थम् करार में अनुबंध कर सकते हैं । भारतीय संस्थाओं के अंतर्गत भारतीय माध्यस्थम् परिषद् और अनुकल्पी विवाद समाधान के लिए अंतरराष्ट्रीय केन्द्र है । अंतरराष्ट्रीय संस्था के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय माध्यस्थम् न्यायालय, अंतरराष्ट्रीय माध्यस्थम् का लंदन न्यायालय और अमेरिकन माध्यस्थम् एसोसिएशन है । इन सभी संस्थाओं ने माध्यस्थम् संचालित करने के लिए व्यक्तितः नियम विरचित किए हैं । ये नियम अनुभव के आधार पर विरचित किए गए हैं और इस प्रकार, वे उन सभी संभव स्थितियों के बारे में हैं जो माध्यस्थम् के अनुक्रम पैदा हो सकती हैं ।

1.42 तदर्थ माध्यस्थम् की तुलना में संस्थागत माध्यस्थम् के मामले में निम्नलिखित फायदे होते हैं :–

1. तदर्थ माध्यस्थम् के मामले में, प्रक्रियाओं की सहमति पक्षकारों और मध्यस्थ द्वारा करनी होगी । इसमें पक्षकारों के बीच सहयोग की आवश्यकता है । जब कोई विवाद विद्यमान होता है तो ऐसे सहयोग की प्रत्याशा करना कठिन है । संस्थागत माध्यस्थम् में नियम पहले से ही मौजूद हैं । नियम विरचित करने के बारे में चिन्ता करने या

नियम बनाने में समय गंवाने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

2. तदर्थ माध्यस्थम् में, माध्यस्थम् संचालित करने की अवसंरचनात्मक सुविधाएं एक समस्या है, इसलिए होटलों की सुविधा किराए पर लेने का लालच है । मे माध्यस्थम् लागत बढ़ जाती है । प्रशिक्षित कर्मचारी पाना काफी कठिन है । पुस्तकालय सुविधा एक दूसरी समस्या है । संस्थगत माध्यस्थम् में, माध्यस्थम् संस्थाओं के पास माध्यस्थम् के संचालन के लिए अवसंरचनात्मक सुविधाएं होंगी ; उनके पास प्रशिक्षित सचिवीय और प्रशासनिक कर्मचारी होंगे । वहां पुस्तकालन सुविधाएं भी होंगी । माध्यस्थम् का संचालन करने में व्यावसायिकता होगी । माध्यस्थम् की लागत भी संस्थागत माध्यस्थम् में सस्ता है ।

खर्चीले प्रक्रिया

3. संस्थागत माध्यस्थम् में, संस्था मध्यस्थों की उनके जीवनवृत्त के साथ एक सूची बनाए रखेगा । पक्षकार सूची से मध्यस्थ का चयन कर सकते हैं । यह विशेषज्ञ मध्यस्थ भी उपलब्ध कराता है । जबकि तदर्थ माध्यस्थम् में, ये फायदे उपलब्ध नहीं हैं ।

4. संस्थगत माध्यस्थम् में, कई माध्यस्थम् संस्थाओं के पास माध्यस्थम् पंचाटों की संवीक्षा के लिए विशेषज्ञ समिति है । पंचाट को अंतिम रूप दिए जाने और पक्षकारों को दिए जाने के पूर्व, इसकी संवीक्षा विशेषज्ञ पैनल द्वारा की जाती है । इसलिए, न्यायालय के पास पंचाट को अपास्त करने की संभावना न्यूनतम है । यह सुविधा तदर्थ माध्यस्थम् में उपलब्ध नहीं है । अतः, इसमें न्यायालय के हस्तक्षेप की अधिक जोखिम है ।

5. संस्थागत माध्यस्थम् में, मध्यस्थों की फीस माध्यस्थम् संस्था द्वारा नियत है । पक्षकार पहले से ही जानते हैं कि माध्यस्थम् की लागत क्या होगी । तदर्थ माध्यस्थम् में, मध्यस्थ की फीस मोल-तोल और सहमति पर निर्भर होती है । भारतीय अनुभव दर्शाता है कि यह काफी खर्चीला है ।

6. संस्थागत माध्यस्थम् में, मध्यस्थ संस्था के नियमों द्वारा शासित होते हैं और उन्हें उचित रूप से माध्यस्थम् संचालित न करने के लिए पैनल से हटाया जा सकेगा जबकि तदर्थ माध्यस्थम् में, ऐसा कोई भय नहीं है ।

7. यदि किसी कारण से मध्यस्थ संस्थागत माध्यस्थम् में मध्यस्थ के रूप मे जारी करने मे असमर्थ हो जाते हैं तो प्रतिस्थानी रखने में अधिक समय लगेगा । जब प्रतिस्थानी मिल जाता है माध्यस्थम् की प्रक्रिया वैसी ही बनी रहती है । कार्यवाहियां वहां से जारी हो सकती हैं जहां से वे समाप्त हो गई थीं, जबकि तदर्थ माध्यस्थम् में ये सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं ।

8. संस्थागत माध्यस्थम् में, सचिवीय और प्रशासनिक कर्मचारी संस्था के अनुशासन के अधीन हैं, इसलिए कार्यवाही की गोपनीयता बनाए खना आसान है । तदर्थ माध्यस्थम् में, सचिवीय कर्मचारियों से व्यावसायिकता की प्रत्याशा करना कठिन है ।

1.43 भारतीय खाद्य निगम बनाम जोगिन्दर पाल मोहिन्दर पाल[8] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

" हमें माध्यस्थम् की विधि को साधारण, कम तकनीकीयुक्त और स्थितियों की वास्तविकताओं के अधिक अनुकूल और उत्तरदायी

---

8

बनाना चाहिए लेकिन न्याय के सिद्धांतों और निष्पक्षता के प्रति जवाबदेह होना चाहिए और मध्यस्थ को ऐसी प्रक्रिया और मानकों का पालन करने वाला बनाता है जो न केवल पक्षकारों के बीच न्याय प्रदान करे बल्कि यह भावना पैदा करे कि यह लगे कि न्याय किया गया है, जो लोगों में विश्वास पैदा करेगा ।"

1.44 माध्यस्थम् की अनुकल्पी विवाद समाधान प्रक्रिया का उद्देश्य पक्षकारों के विकल्प के निजी मंच के माध्यम से विवादों का शीघ्र और प्रभावी निपटान करना है ।[9]

1.45 माध्यस्थम् लागत से माध्यस्थम् को बचाने के लिए संस्थागत माध्यस्थम् का पक्ष लेते हुए, उच्चतम न्यायालय ने हाल ही में, भारत संघ बनाम मैसर्स सिंह बिल्डर्स सिंडिकेट[10] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया :–

" जब सेवारत अधिकारियों से मिलकर बने अधिकरण द्वारा माध्यस्थम् किया जाता है, माध्यस्थम् की लागत बहुत कम होती है । दूसरी ओर, माध्यस्थम् की लागत काफी अधिक हो सकती है यदि माध्यस्थम् अधिकरण सेवानिवृत्त न्यायाधीशों से मिलकर बना हो । जब सेवानिवृत्त न्यायाधीश की नियुक्ति मध्यस्थ के रूप में सेवारत अधिकारियों के स्थान पर की जाती है तो सरकार प्राइवेट मध्यस्थ फीस के द्वारा माध्यस्थम् की उच्च लागत सहने के लिए मजबूर हो जाता है चाहे उसने मध्यस्थ के रूप में ऐसे गैर-तकनीकी गैर-सेवारत व्यक्तियों की नियुक्ति के लिए सहमति नहीं दी थी । निस्संदेह यह व्याप्त राय है कि माध्यस्थम् की लागत ऐसे कई मामलों में बहुत अधिक होती है जहां सेवानिवृत्त न्यायाधीश मध्यस्थ हैं । काफी अधिक बैठकें और किसी सीमा के बिना कई बातों के साथ प्रति बैठक प्रति उच्च फीस का प्रभार कई बार

---

[9] भारत संघ बनाम मैसर्स सिंह बिल्डर्स सिंडिकेट, 2009 (4) स्केल 491.

[10] - वही -

विवाद में अंतवर्लित रकम या पंचाट की रकम के लगभग या इससे अधिक भी होती है । जब फीस उपदर्शित किए बिना न्यायालय द्वारा मध्यस्थ नियुक्त किए जाते हैं तो या तो दोनों पक्षकार या कम से कम एक पक्षकार अलाभकर स्थिति में रहता है । प्रथमतः पक्षकार यह सहमत होने में दबाव महसूस करते हैं जो भी फीस मध्यस्थ द्वारा सुझाया जाता है, चाहे यह अधिक या उनकी क्षमता से परे हो । द्वितीयतः, यदि मध्यस्थ द्वारा अधिक फीस का दावा किया जाता है और एक पक्षकार ऐसी फीस देने पर सहमत होता है और दूसरा पक्षकार, जो ऐसी फीस देने में असमर्थ है या ऐसी उँची फीस देने का अनिच्छुक है, उलझन में पड़ जाता है । वह इस आशंका से ऊंची फीस पर अपना आरक्षण या आपत्ति व्यक्त करने की स्थिति में नहीं होगा कि मध्यस्थ और सुझाई गई फीस पर उसकी सहमति से इनकारी से उसके मामले पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा या अन्य पक्षकार के पक्ष में पक्षपात का अवसर देगा जो आसानी से उँची फीस देने के लिए सहमत हो गया था । माध्यस्थम् लागत से माध्यस्थम् को बचाने के लिए इस समस्या का शीघ्र समाधान निकालना आवश्यक है । संस्थागत माध्यस्थम् ने यह समाधान उपलब्ध कराया है क्योंकि मध्यस्थों की फीस मामले दर मामले आधार पर मध्यस्थों द्वारा नियत नहीं की जाती है बल्कि यह उस संस्था द्वारा विहित समरूप दर द्वारा शासित है जिसकी छत्रछाया में माध्यस्थम् हुआ है । दूसरा समाधान पक्षकारों की सहमति से और यदि आवश्यक हो संबद्ध मध्यस्थ के परामर्श से मध्यस्थ की नियुक्ति करते समय न्यायालय द्वारा फीस नियत किया जाना है । तीसरा, मध्यस्थों के रूप में सेवा करने का प्रस्ताव करने वाले सेवानिवृत्त न्यायाधीशों का संबद्ध उच्च न्यायालय के रजिस्ट्रार कार्यालय में अपनी फीस संरचना का उपदर्शन करना है जिससे कि पक्षकारों के पास उस मध्यस्थ को चयन करने का विकल्प

होगा जिसकी फीस अंतर्वलित वस्तु को ध्यान में रखते हुए उनकी 'सीमा' में है । आक्षेपणीय यह है कि पक्षकारों को न्यायालय द्वारा नियुक्त मध्यस्थ के पास जाने के लिए मजबूर किया जाता है और इसके बाद ऐसे मध्यस्थ द्वारा नियत फीस पर सहमत होने के लिए भी मजबूर किया जाता है । यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि विलम्ब, उँची लागत, विभिन्न प्रक्रमों पर बार-बार और कभी-कभी अनापेक्षित न्यायिक निर्वचन प्रभावी विवाद समाधान प्रक्रिया के रूप में मध्यस्थ के विकास को गंभीर रूप से नुकसान पहुंचा रहे हैं । विलम्ब और ऊंची लागत दो ऐसे क्षेत्र हैं जहां मध्यस्थ स्व-विनियमन द्वारा उत्कृष्ट सुधार कर सकते हैं ।"

1.46 न्यायालय के बाहर विवादों के निपटान का उपबंध करने वाली धारा 89 सिविल प्रक्रिया संहिता में वर्ष 1999 में अंतःस्थापित की गई और 1.7.2002 से प्रभाव में लाई गई । सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) विधेयक, 1999 के "खण्डों का टिप्पण" में इस उपबंध के बारे में यह कहा गया :–

" खण्ड 7 में न्यायालय से बाहर विवादों के निपटान का उपबंध है । खण्ड का उपबंध भारत के विधि आयोग और मलिमथ समिति द्वारा की गई सिफारिशों पर आधारित है । भारत के विधि आयोग द्वारा यह सुझाव दिया गया था कि न्यायालय पक्षकारों के बीच सौहार्दपूर्ण समाधान पर पहुंचने की दृष्टि से किसी वाद या कार्यवाही के किसी पक्षकार की व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होने की अपेक्षा कर सकेगा और पक्षकारों के बीच सौहार्दपूर्ण ढंग से विवाद का निपटान करने का प्रयास करेगा । मलिमथ समिति ने न्यायालयों के लिए माध्यस्थम्, सुलह, मध्यस्थता, न्यायिक निपटान या लोक अदालत के माध्यम से निपटान के लिए मुद्दों को विरचित करने के पश्चात् विवाद का निदेश करना आबद्धकर बनाने की सिफारिश की थी । पक्षकारों द्वारा किसी अनुकल्पी विवाद समाधान

तरीके के माध्यम से अपने विवाद निपटाने में असफल होने की दशा में ही उस वाद की आगे कार्यवाही हो सकती है । उपरोक्त को ध्यान में रखते हए खण्ड 7 अनुकल्पी विवाद समाधान का उपबंध करने के लिए संहिता में नई धारा 89 को अन्तःस्थापित करने की ईप्सा करता है । "

1.47 धारा 89 शीघ्र न्याय उपलब्ध कराने के स्वीकृत उद्देयश्य से न्यायालय के बाहर विवादों के निपटान के लिए पहली बार सम्मिलित की गई है :–

1. अब निम्नलिखित किसी माध्यम से मुद्दों को विरचित करने के पश्चात् विवाद के निपटान के लिए निर्दिष्ट करना आबद्धकर बनाया गया है –

(क) माध्यस्थम्

(ख) सुलह,

(ग) लोक अदालत के माध्यम से निपटान सहित न्यायिक निपटान या

(घ) मध्यस्थता

2. जहां पक्षकार किसी अनुकल्पी विवाद, समाधान तरीकों से अपने विवादों का निपटान करने में असफल होते हैं वहां उस न्यायालय में वाद में आगे कार्यवाही हो सकती है जिसमे यह फाइल किया गया था ।

3. विवाद के विभिन्न तरीकों के लिए निर्दिष्ट मामलों में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का उल्लेख उपधारा 2 में किया गया है ।

4. धारा 89 की उपधारा 2 का खण्ड (घ) सरकार और उच्च न्यायालयों को पक्षकारों के बीच समझौते को प्रभावी बनाने के लिए

मध्यस्थता कार्यवाहियों मे अपनाए जाने वाले नियम बनाने की शक्ति प्रदान करता है ।

1.48 सलेम एडवोकेट बार एसोसिएशन बनाम भारत संघ[11] वाले मामले में, उच्चतम न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता में किए गए संशोधन की संवैधानिक विधिमान्यता की चुनौती को खारिज कर दिया था और आदर्श अनुकल्पी विवाद समाधान और मध्यस्थता नियमों पर विचार करने समेत उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश, न्यायमूर्ति एम. जगन्नाथ राव और भारत के विधि आयोग के अध्यक्ष की अध्यक्षता वाली समिति की रिपोर्टों पर ध्यान दिया ।

1.49 हमें पक्षकारों को अपने विवादों को न्यायालय के बाहर अधिक से अधिक सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 89 का प्रयोग करते हुए मामले को निपटाने को प्रोत्साहित करने का प्रयास करना चाहिए ।

1.50 सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1999 द्वारा न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 मे एक नई धारा 16 अंतःस्थपित की गई है । वह इस प्रकार है :–

> " जहां न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 89 में निर्दिष्ट विवाद के निपटान के तरीकों में से किसी एक के लिए वाद के पक्षकारों को निर्दिष्ट करती है वहां वादी कलक्टर से ऐसे वाद पत्र की बाबत संदत्त फीस की पूरी रकम वापस लेने के लिए उसे प्राधिकृत करते हुए न्यायालय से एक प्रमाण पत्र लेने का हकदार होगा ।"

1.51 जहां विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम की धारा 20(1) के साथ पठित सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 89(2) के निबंधनानुसार लोक अदालत को निर्दिष्ट मामले का समाधान हो जाता है वहां न्यायालय फीस का प्रतिदाय विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम की धारा 21 के साथ पठित

---

[11] ए. आई. आर. 2003 एस. सी. 189 और (2005) 6 एस. सी. सी. 344.

न्यायालय फीस की धारा 16 द्वारा शासित है और वादी वादपत्र पर संदत्त संपूर्ण न्यायालय फीस का प्रतिदाय पाने का हकदार है ।[12]

1.52 लोक अदालत अधिनिर्णय समझौते पर डिक्री के समान है और अंतिम, अनअपीलनीय, आबद्धकर और निष्पाद्य डिक्री के समतुल्य है और पक्षकारों के बीच मुकदमेबाजी के प्रयोजनों को पूरा करता है ।[13]

1.53 न्यायपालिका में लोक विश्वास पहले की तुलना में आज समय की आवश्यकता है । न्यायपालिका संविधान मे अनुष्ठापित सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के कार्य में विशेष भूमिका अदा करती है । उनका एकाकीपन और स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए न्यायाधीशों को लोगों के लिए सामाजिक आर्थिक न्याय प्राप्त करने के कार्य में सामाजिक परिवर्तनों की जानकारी होनी चाहिए ।

1.54 सुकरात ने कहा कि एक अच्छे न्यायाधीश के लिए चार बातें आवश्यक हैं :–

(क) नम्रतापूर्वक सुनना ;

(ख) बुद्धिमत्तापूर्वक उत्तर देना ;

(ग) गम्भीरतापूर्वक विचार करना ; और

(घ) निष्पक्षतः विनिश्चय करना ।

1.55 अधीनस्थ न्यायपालिका के न्यायाधीश, जिन्हें हमारी न्यायपालिका की जड़ कहा जा सकता है, में स्वयं में विश्वास पैदा करने और समाज के प्रति न्याय करने की योग्यता होनी चाहिए । यह ठीक ही कहा गया कि न्यायिक अधिकारी दैविक कार्य करते हैं यद्यपि वे स्वयं ईश्वर नहीं हैं । अधीनस्थ न्यायपालिका के प्रत्येक न्यायिक अधिकारी को अनुशासित जीवन जीना चाहिए । सभी काडर के न्यायाधीशों को न्यायालय में कड़ाई से समय

---

[12] वासुदेव वी. ए. बनाम केरल राज्य,ए. आई. आर. 2004 केरल 43.

[13] पी. टी. थामस बनाम थामस जान (2005) 6 एस. सी. सी . 478.

की पाबंदी रखनी चाहिए । सत्यनिष्ठा न्यायिक अधिकारी का आवश्यक गुण है । न्यायिक अधिकारी को ईमानदारी, नैतिकता और व्यवहार के मानकों का पालन करना चाहिए । न्यायपालिका के सदस्यों को नियत समय के भीतर निर्णय सुनाना चाहिए । न्यायाधीशों को भय या पक्षपात, प्रेम या विद्वेष या मित्रता या दुश्मनी की भावना के बिना मामलों का विनिश्चय करना चाहिए । उन्हें बहुत कठिन कार्य करना चाहिए । वादकारियों, साक्षियों और बार के सदस्यों के प्रति बहुत ईमानदार और विनम्र होना चाहिए और संपूर्ण विनम्रता से अपने न्यायिक कृत्यों का निर्वहन करना चाहिए । उन्हें तब तक अपना अधिमत नहीं सुनाना चाहिए जब तक वे इसे तत्काल खुले न्यायालय में घोषित करने का प्रस्ताव नहीं करते । न्यायाधीशों को निर्णय लिखने की कला विकसित करनी चाहिए जो एक सृजनात्मक प्रक्रिया है । भाषा स्पष्ट, संक्षिप्त और सूत्रबद्ध होनी चाहिए । लम्बे वाक्य अपना महत्व खो देते हैं । शब्दों का चयन संगत सूक्षमता से किया जाना चाहिए । तथ्यों का उल्लेख संक्षेप में किया जाना चाहिए, मुद्दे स्पष्टतः लिखे जाने चाहिएं, साक्ष्य की चर्चा सिलसिलेवार की जानी चाहिए,तर्क युक्तियुक्त होने चाहिए और एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु का क्रम बना रहना चाहिए और तब मामले का विनिश्चय किया जाए । इस समय, न्यायिक शिक्षा और प्रशिक्षण काफी अनिवार्य है जिसे उचित न्याय प्रशासन को बढ़ाने के लिए प्रभावी ही नहीं बल्कि अनिवार्य माध्यम कहा जा सकता है । शिक्षा, ज्ञान और संवेदनशीलता बढ़ाती है जबकि प्रशिक्षण, दक्षता, बर्ताव और व्यावहारिकता का विकास करती है । न्यायिक कार्य संपादन में दोनों एक दूसरे को बल प्रदान करते हैं । इसी कारण भोपाल में राष्ट्रीय न्यायिक एकेडमी और राज्य स्तर पर न्यायिक एकेडमी या प्रशिक्षण निदेशालय अस्तित्व में आए । भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा. ए. पी. जे. अबुल कलाम भी अनुकल्पी विवाद समाधन तंत्र के रूप में मध्यस्थता और सुलह के समर्थक रहे हैं और इसलिए उनके प्रशिक्षण की आवश्यकता पर बल दिया कि वे पक्षकारों में यह धारणा पैदा कर सकें कि वे नियमनिष्ठ

ईमानदार और योग्य व्यक्ति हैं ।

1.56 देश के विभिन्न कारागारों मे निरुद्ध विचाराधीन कैदियों का मुद्दा चिन्ता का विषय रहा है । केन्द्रीय सरकार विचाराधीनों की स्थिति महसूस करते हुए और आम आदमी को न्याय सुनिश्चित करने के लिए संपूर्ण देश में "त्वरित निपटान न्यायालय" के रूप में नामित 1734 न्यायालयों के सृजन के लिए 502.90 करोड़ रुपए का आबंटन किया । स्कीम पांच वर्षों के लिए थी जो उच्चतम न्यायालय के हस्तक्षेप के पश्चात् पांच और वर्षों के लिए, अर्थात् 31 मार्च, 2010 तक 509 करोड़ रुपए के प्रावधान के साथ चल रही है ।

1.57 एक सफल न्यायिक प्रणाली किसी विकसित सभ्यता की निशानी है । आपराधिक आचरण को कड़े नियंत्रण के अधीन लाने में आपराधिक न्यायिक प्रणाली की असफलता लोक व्यवस्था के भाग और मानवीय स्वतंत्रता की महत्वपूर्ण स्थिति के लोप की ओर ले जाने की दृष्टि से देखा जाता है । अपराध नियंत्रण के अधीन दोषी को गिरफ्तार, अभियोजन, दोषसिद्ध और दण्डित करने और अन्य लोगों द्वारा अपराध को रोकने के लिए सुव्यवस्थित और दक्ष तरीके की विवक्षा की जाती है । व्यक्तिगत अधिकारों का संरक्षण राज्य द्वारा शक्तियों के मनमाने प्रयोग के विरुद्ध अभियुक्त की रक्षा करना आवश्यक है । न्यायालयों में लम्बा विलम्ब न केवल अभियुक्त को बल्कि पीड़ित व्यक्ति और राज्य को भी भारी कठिनाई में डालता है । अभियुक्त जो जमानत पर बाहर नहीं है, विचारण के निष्कर्ष की प्रतीक्षा करते हुए महीनों या वर्षों तक जेल में रह सकता है । इस प्रकार अन्वेषण और अभियोजन के तरीकों को सुधारने के लिए प्रयास करने की अपेक्षा है । उसमें अधिक व्यावसायिकता लाने की आवश्यकता है । राज्य सरकार को अन्वेषक और न्यायालय कार्य में भाग लेने के प्रयोजन के लिए पुलिस विभाग में एक विशेष खण्ड बनाया जाना चाहिए और अभियोजन अभिकरण स्वतंत्र होना चाहिए ।

1.58 एक अभियोजक की आपराधिक न्याय प्रणली में अद्भुत स्थिति

होती है । हितेन्द्र विष्णु ठाकुर बनाम महाराष्ट्र राज्य[14] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि लोक अभियोजक राज्य सरकार का एक महत्वपूर्ण अधिकारी है और इसकी नियुक्ति सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन राज्य द्वारा की जाती है । वह अन्वेषक अभिकरण का भाग नहीं है । वह स्वतंत्र कानूनी प्राधिकारी है । विचारण की सफलता मुख्यतः प्रभावी अभियोजन पर निर्भर है जो सुलह, प्रशिक्षित, निष्पक्ष और समर्पित अभियोजकों द्वारा ही संभव है । आगे यह भी कहना है कि लोक अभियोजक की ईमानदारी और निष्पक्षता न्याय प्रशासन में आवश्यक है । यह आवश्यक है कि निष्पक्ष, उचित और विचारण का शीघ्र निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए अभियोजन के प्रबन्धन की गुणता को सुधारने के प्रयास किए जाने चाहिए ।

1.59 आपराधिक मामलों में भी, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 320 में उसमें वर्णित अपराधों के शमन के लिए निपटान की मान्यता प्रदान की गई है ।

## अधिवक्ता

1.60 आम जनता की प्रत्याशाओं के अनुसार अधिवक्ता को पूर्णतः व्यावसायिक, ईमानदार और सक्षम होना चाहिए जो न्याय के हेतुक को कायम रख सकते हैं । अधिवक्ताओं को सामाजिक निर्माता और न्यायिक प्रक्रिया के सुधारक के रूप मे अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के पूर्ण भाव से युक्त योग्य पुरुष या महिला होनी चाहिए । उन्हें अनन्त परम्परा का गुणग्राहक होना चाहिए और अपने कार्य की महत्ता से अवगत होना चाहिए । उन्हें न्याय का सेवक और समुदाय की आत्मा होने के कारण आवश्यक विनम्रता से युक्त रहना चाहिए ।

1.61 समाज का ऐसा संवेदनशील वर्ग जिन्हें सीमान्त स्थिति में रखा गया है, पर अति संवेदनशीलता और सावधानीपूर्वक देखभाल करनी

---

[14] ए. आई. आर. 1994 एस. सी. 2623.

चाहिए । शक्तिहीन, निर्धन और निरक्षर होने के कारण उन्हें समाज के अभिन्न भाग के रूप में अपने निजी अधिकारों को कायम रखने के लिए ज्ञान और क्षमता के सशक्तीकरण के लिए सहायता की आवश्यकता है । विधिक साक्षरता अभियोजन, अर्द्ध विधिक प्रशिक्षण कार्यक्रम, अन्याय और शोषण के विरुद्ध आम राय बनाना, विवादों का न्यायालय के बाहर निपटान, विधि सलाह, आदि कुछ ऐसे साधन हैं जिनके माध्यम से गरीब और पददलितों को इस महान राष्ट्र के निर्माण और नवीकरण करने में अपने निजी महत्व के बारे में उनके अधिकारों को समझाया और सिखाया जा सकता है ।

1.62 चूंकि निचली न्यायपालिका में अधिकांश न्यायिक कार्य होता है इसलिए इसे मजबूत करने की आवश्यकता है । न केवल निचले न्यायालयों की अवसंरचना को सुधारने की आवश्यकता है बल्कि न्यायिक अधिकारियों की सेवा-शर्तों को भी पुनर्गठित करने की आवश्यकता है और न्यायालयों को सृजित करने की आवश्यकता है जिससे कि न्याय लोगों के दरवाजों तक पहुंचाया जा सके । पुराने मामलों के निपटान के लिए जिला स्तर पर केन्द्रीय सरकार द्वारा त्वरित निपटान न्यायालय द्वारा हाल ही का सृजन सही दिशा में उठाया गया एक कदम है ।

1.63 हमारे देश में, जनसंख्या और न्यायाधीशों के बीच अनुपात अस्वाभाविक है । अतः न्यायपालिका मुकदमेबाजी की बाढ़ से निपटने में असमर्थ है । अतः, न्यायाधीशों की संख्या जनसंख्या के अनुपात में बढ़ाए जाने की आवश्यकता है । भारत प्रति मिलियन लोगों पर 15 न्यायाधीशों से कम है, जो कनाडा (लगभग 75 प्रति मिलियन) और यू. एस (104 प्रति मिलियन) जैसे देशों की तुलना में काफी कम है । 2002 में, उच्चतम न्यायालय ने केन्द्रीय सरकार को निदेश दिया था कि चरणबद्ध ढंग से न्यायाधीश-जनसंख्या अनुपात बढ़ाकर प्रति 50 मिलियन किया जाए ।[15]

---

[15] द हिन्दू 06.09.2007.

1.64 हमारी दकियानूसी विधियों को या तो विलोपित करने या नवीकृत करने की आवश्यकता है । प्रक्रिया विधियों को कांट-छांट और चुस्त-दुरुस्त करना चाहिए । सिविल और आपराधिक दोनों में अपील के अधिकार को निर्बंधित किए जाने की आवश्यकता है ।

1.65 न्यायालयों की कार्य संस्कृति को सुधारा जाना चाहिए । अधिवक्ता परिषद् और न्यायपीठ के बीच संबंध सौहार्दपूर्ण होना चाहिए । हड़तालों और स्थगनों से मामलों के निपटान में विलम्ब ही होता है ।

1.66 विधान की गुणता में सुधार किए जाने की आवश्यकता है । गुणरहित प्रारूपित विधियों से मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है । यदि विधि स्पष्ट है तो मुकदमेबाजी के अवसर कम हो जाते हैं ।

1.67 निर्णयों और अंतिम आदेश, आदि की प्रमाणित प्रतियां देने में अति विलम्बता से बचने को ध्यान में रखते हुए उनकी उद्घोषणा के पश्चात् तत्काल प्रतियां देनी चाहिए और प्रमाणित की जानी चाहिएं और जब कभी आवश्यक हो, प्रमाणित प्रतियां जारी करने के प्रयोजनों के लिए प्रतिलिपि अनुभाग में रखा जाना चाहिए ।

1.68 न्यायिक सुधार न केवल न्यायपालिका के लिए चिन्ता का विषय है, बल्कि यह कार्यपालिका, विधायिका, अधिवक्ता परिषद् और लोगों का भी उत्तरदायित्व है । यह एक अवसरीय उपचार नहीं है बल्कि एक सतत् प्रक्रिया है । विद्वेष के लिए, उन्हें एक दूसरे पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए । मुकदमा-महामारी को रोकने और नियंत्रित करने के लिए इन्हें एकजुट होना चाहिए ।

1.69 अनुकल्पी विवाद समाधान के आविष्कार से लोगों के पास अपने विवादों के निपटान के लिए एक नया आयाम पैदा हो गया है । न्यायालय के बाहर विवादों के समाधान के लिए अधिक से अधिक अनुकल्पी विवाद समाधान केन्द्र खोले जाने चाहिए जैसा कई अन्य देशों में किया जा रहा है । अनुकल्पी विवाद समाधान तरीकों से वस्तुतः लोगों को सामाजिक

न्याय देने का लक्ष्य प्राप्त होगा जो वस्तुतः सफल न्यायिक प्रणाली का लक्ष्य है ।

1.70 डाकेट्स को कम करने में प्रौद्योगिकी की महत्वपूर्ण भूमिका है । न्यायालयों में त्वरित गति से कम्प्यूटर लगाए जाने चाहिए । यह सूचना के प्रचार-प्रसार, आंकड़ों के सृजन, न्यायिक अभिलेखों के रख-रखाव और न्याय वितरण प्रणाली को बेहतर करने को सुकर बनाता है । राष्ट्रपति द्वारा 09.07.2007 को चलाई गई नेशनल ई-कोर्ट परियोजना को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है ।

## II. सिफारिशें

2.1 हमें यह ज्ञात है कि पूर्ववर्ती अध्याय की प्रतिपादनाएं नई नहीं हैं । फिर भी, हम महसूस करते हैं कि उन्हें पुनः प्रभावी बनाने और पुनः पुष्ट किए जाने की आवश्यकता है । अनुकल्पी विवाद समाधान तंत्रों के माध्यम से न्याय-वितरण की शीघ्र आवश्यकता है । अनुकल्पी विवाद समाधान आन्दोलन को अधिक गति देने की आवश्यकता है । इसके अलावा, कई अन्य सुझावों पर नए सिरे से विचार किए जाने की आवश्यकता है जिसे अभी घिसा-पिटा कहा जाता है ।

2.2 तदनुसार हम सिफारिश करते हैं ।

ह/-
( डा. न्यायमूर्ति एआर. लक्ष्मणन )
अध्यक्ष

ह/-
(प्रोफेसर (डा.) ताहिर महमूद
सदस्य

ह/-
(डा. ब्रह्म ए. अग्रवाल )
सदस्य-सचिव